श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्रीमद्भगवद्गीता चतुर्थ अध्याय

पार्थ सारथी ने समझाया धर्म -कर्म का ज्ञान,
मानव जीवन सफल बना ले गीता अमृत मान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।

देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय के साधन वेद-पुराणों का पाठ करना चाहिये।

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।

प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

जिन भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणति सर्वदा के लिए सब प्रकार के दुःखों को शांत कर देती है, उन्हीं परम -तत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूं।

श्रीमद्भगवद्गीतायां(ञ्)

चतुर्थोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इमं(वँ) विवस्वते योगं(म्), प्रोक्तवानहमव्ययम् ।

विवस्वान्मनवे प्राह, मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ 1 ॥

श्री भगवान बोले- मैंने इस अविनाशी योग को सूर्य से कहा था, सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु से कहा और मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु से कहा ।

एवं(म्) परम्पराप्राप्त- मिमं(म्) राजर्षयो विदुः ।

स कालेनेह महता, योगो नष्टः(फ्) परन्तप ॥ 2 ॥

हे परन्तप अर्जुन! इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षियों ने जाना, किन्तु उसके बाद वह योग बहुत काल से इस पृथ्वी लोक में लुप्तप्राय हो गया ।

स एवायं(म्) मया तेऽद्य, योगः(फ्) प्रोक्तः(फ्) पुरातनः ।

भक्तोऽसि मे सखा चेति, रहस्यं(म्) ह्येतदुत्तमम् ॥ 3 ॥

तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिए वही यह पुरातन योग आज मैंने तुझको कहा है क्योंकि यह बड़ा ही उत्तम रहस्य है अर्थात् गुप्त रखने योग्य विषय है ।

अर्जुन उवाच

अपरं(म्) भवतो जन्म, परं(ञ्) जन्म विवस्वतः ।

कथमेतद्विजानीयां(न्), त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ 4 ॥

अर्जुन बोले- आपका जन्म तो अर्वाचीन-अभी हाल का है और सूर्य का जन्म बहुत पुराना है अर्थात् कल्प के आदि में हो चुका था; तब मैं इस बात को कैसे समूझँ कि आप ही ने कल्प के आदि में सूर्य से यह योग कहा था?

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि, जन्मानि तव चार्जुन ।

तान्यहं(वँ) वेद सर्वाणि, न त्वं(वँ) वेत्थ परन्तप ॥ 5 ॥

श्री भगवान बोले- हे परंतप अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं। उन सबको तू नहीं जानता, किन्तु मैं जानता हूँ ।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा, भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।

प्रकृतिं(म्) स्वामधिष्ठाय, सम्भवाम्यात्ममायया ॥ 6 ॥

मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियों का ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृति को अधीन करके अपनी योगमाया से प्रकट होता हूँ ।

यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं(म्) सृजाम्यहम् ॥ 7 ॥

हे भारत! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात् साकार रूप से लोगों के सम्मुख प्रकट होता हूँ ।

परित्राणाय साधूनां(वँ), विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसं(म्)स्थापनार्थाय, सम्भवामि युगे युगे ॥ 8 ॥

साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए, पाप कर्म करने वालों का विनाश करने के लिए और धर्म की अच्छी तरह से स्थापना करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट हुआ करता हूँ ।

जन्म कर्म च मे दिव्य- मेवं(यँ) यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्वा देहं(म्) पुनर्जन्म, नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ 9 ॥

हे अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं- इस प्रकार जो मनुष्य तत्व से जान लेता है, वह शरीर को त्याग कर फिर जन्म को प्राप्त नहीं होता, किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है ।

वीतरागभयक्रोधा, मन्मया मामुपाश्रिताः ।

बहवो ज्ञानतपसा, पूता मद्भावमागताः ॥ 10 ॥

पहले भी- जिनके राग, भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गए थे और जो मुझ में अनन्य प्रेमपूर्वक स्थित रहते थे, ऐसे मेरे आश्रित रहने वाले बहुत से भक्त उपर्युक्त ज्ञान रूप तप से पवित्र होकर मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं ।

ये यथा मां(म्) प्रपद्यन्ते, तां(म्)स्तथैव भजाम्यहम् ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते, मनुष्याः(फ्) पार्थ सर्वशः ॥ 11 ॥

हे अर्जुन! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं ।

काङ्क्षन्तः(ख्) कर्मणां(म्) सिद्धिं(यँ), यजन्त इह देवताः ।

क्षिप्रं(म्) हि मानुषे लोके, सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ 12 ॥

इस मनुष्य लोक में कर्मों के फल को चाहने वाले लोग देवताओं का पूजन किया करते हैं क्योंकि उनको कर्मों से उत्पन्न होने वाली सिद्धि शीघ्र मिल जाती है ।

चातुर्वर्ण्यं(म्) मया सृष्टं(ङ्), गुणकर्मविभागशः ।

तस्य कर्तारमपि मां(वँ), विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ 13 ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र- इन चार वर्णों का समूह, गुण और कर्मों के विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है। इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कर्म का कर्ता होने पर भी मुझ अविनाशी परमेश्वर को तू वास्तव में अकर्ता ही जान ।

न मां(ङ्) कर्माणि लिम्पन्ति, न मे कर्मफले स्पृहा ।

इति मां(यँ) योऽभिजानाति, कर्मभिर्न स बध्यते ॥ 14 ॥

कर्मों के फल में मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिए मुझे कर्म लिप्त नहीं करते- इस प्रकार जो मुझे तत्व से जान लेता है, वह भी कर्मों से नहीं बँधता ।

एवं(ञ्) ज्ञात्वा कृतं(ङ्) कर्म, पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं(म्), पूर्वैः(फ्) पूर्वतरं(ङ्) कृतम् ॥ 15 ॥

पूर्वकाल में मुमुक्षुओं ने भी इस प्रकार जानकर ही कर्म किए हैं, इसलिए तू भी पूर्वजों द्वारा सदा से किए जाने वाले कर्मों को ही कर ।

किं(ङ्) कर्म किमकर्मेति, कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।

तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि, यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ 16 ॥

कर्म क्या है? और अकर्म क्या है? इस प्रकार इसका निर्णय करने में बुद्धिमान पुरुष भी मोहित हो जाते हैं। इसलिए वह कर्मतत्व मैं तुझे भलीभाँति समझाकर कहूँगा, जिसे जानकर तू अशुभ से अर्थात् कर्मबंधन से मुक्त हो जाएगा ।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं(म्), बोद्धव्यं(ञ्) च विकर्मणः ।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं(ङ्), गहना कर्मणो गतिः ॥ 17 ॥

कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए और अकर्मण का स्वरूप भी जानना चाहिए तथा विकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए क्योंकि कर्म की गति गहन है ।

कर्मण्यकर्म यः(फ्) पश्ये-दकर्मणि च कर्म यः ।

स बुद्धिमान्मनुष्येषु, स युक्तः(ख्) कृत्स्नकर्मकृत् ॥ 18 ॥

जो मनुष्य कर्म में अकर्म देखता है और जो अकर्म में कर्म देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान है और वह योगी समस्त कर्मों को करने वाला है ।

यस्य सर्वे समारम्भाः(ख्), कामसङ्कल्पवर्जिताः ।

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं(न्), तमाहुः(फ्) पण्डितं(म्) बुधाः ॥ 19 ॥

जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म बिना कामना और संकल्प के होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्नि द्वारा भस्म हो गए हैं, उस महापुरुष को ज्ञानीजन भी पंडित कहते हैं॥19॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं(न्), नित्यतृप्तो निराश्रयः ।

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि, नैव किञ्चित्करोति सः ॥ 20 ॥

जो पुरुष समस्त कर्मों में और उनके फल में आसक्ति का सर्वथा त्याग करके संसार के आश्रय से रहित हो गया है और परमात्मा में नित्य तृप्त है, वह कर्मों में भलीभाँति बरतता हुआ भी वास्तव में कुछ भी नहीं करता ।

निराशीर्यतचित्तात्मा, त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।

शारीरं(ङ्) केवलं(ङ्) कर्म, कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ 21 ॥

जिसका अंतःकरण और इन्द्रियों सहित शरीर जीता हुआ है और जिसने समस्त भोगों की सामग्री का परित्याग कर दिया है, ऐसा आशारहित पुरुष केवल शरीर-संबंधी कर्म करता हुआ भी पापों को नहीं प्राप्त होता ।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो, द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।

समः(स्) सिद्धावसिद्धौ च, कृत्वापि न निबध्यते ॥ 22॥

जो बिना इच्छा के अपने-आप प्राप्त हुए पदार्थ में सदा संतुष्ट रहता है, जिसमें ईर्ष्या का सर्वथा अभाव हो गया हो, जो हर्ष-शोक आदि द्वंद्वों से सर्वथा अतीत हो गया है- ऐसा सिद्धि और असिद्धि में सम रहने वाला कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी उनसे नहीं बँधता ।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य, ज्ञानावस्थितचेतसः ।

यज्ञायाचरतः(ख्) कर्म, समग्रं(म्) प्रविलीयते ॥ 23॥

जिसकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गई है, जो देहाभिमान और ममता से रहित हो गया है, जिसका चित्त निरन्तर परमात्मा के ज्ञान में स्थित रहता है- ऐसा केवल यज्ञसम्पादन के लिए कर्म करने वाले मनुष्य के सम्पूर्ण कर्म भलीभाँति विलीन हो जाते हैं ।

ब्रह्मार्पणं(म्) ब्रह्म हविर्-ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं(म्), ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ 24॥

जिस यज्ञ में अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किए जाने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ता द्वारा ब्रह्मरूप अग्नि में आहुति देना रूप क्रिया भी ब्रह्म है- उस ब्रह्मकर्म में स्थित रहने वाले योगी द्वारा प्राप्त किए जाने योग्य फल भी ब्रह्म ही हैं ।

दैवमेवापरे यज्ञं(यँ), योगिनः(फ्) पर्युपासते ।

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं(यँ), यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ 25॥

दूसरे योगीजन देवताओं के पूजनरूप यज्ञ का ही भलीभाँति अनुष्ठान किया करते हैं और अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मारूप अग्नि में अभेद दर्शनरूप यज्ञ द्वारा ही आत्मरूप यज्ञ का हवन किया करते हैं ।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये, सं(यँ)यमाग्निषु जुह्वति।

शब्दादीन्विषयानन्य, इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ 26॥

अन्य योगीजन श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियों को संयम रूप अग्नियों में हवन किया करते हैं और दूसरे योगी लोग शब्दादि समस्त विषयों को इन्द्रिय रूप अग्नियों में हवन किया करते हैं ।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि, प्राणकर्माणि चापरे ।

आत्मसं(यँ)यमयोगाग्नौ, जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ 27 ॥

दूसरे योगीजन इन्द्रियों की सम्पूर्ण क्रियाओं और प्राणों की समस्त क्रियाओं को ज्ञान से प्रकाशित आत्म संयम योगरूप अग्नि में हवन किया करते हैं ।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा, योगयज्ञास्तथापरे ।

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च, यतयः(स्) सं(म्)शितव्रताः ॥ 28॥

कई पुरुष द्रव्य संबंधी यज्ञ करने वाले हैं, कितने ही तपस्या रूप यज्ञ करने वाले हैं तथा दूसरे कितने ही योगरूप यज्ञ करने वाले हैं, कितने ही अहिंसादि तीक्ष्णव्रतों से युक्त यत्नशील पुरुष स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करने वाले हैं ।

अपाने जुह्वति प्राणं(म्), प्राणेऽपानं(न्) तथापरे ।

प्राणापानगती रुद्ध्वा, प्राणायामपरायणाः ॥ 29॥

दूसरे कितने ही प्राणायाम परायण पुरुष योगीजन अपान वायु में प्राणवायु को हवन करते हैं, वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायु में अपान वायु को हवन करते हैं ।

अपरे नियताहाराः(फ्), प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो, यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ 30 ॥

कितने ही नियमित आहार करने वाले, प्राण और अपान की गति को रोककर प्राणों को प्राणों में ही हवन किया करते हैं। ये सभी साधक यज्ञों द्वारा पापों का नाश कर देने वाले और यज्ञों को जानने वाले हैं ।

यज्ञशिष्टामृतभुजो, यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।

नायं(लँ) लोकोऽस्त्ययज्ञस्य, कुतोऽन्यः(ख्) कुरुसत्तम ॥ 31॥

हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञ से बचे हुए अमृत का अनुभव करने वाले योगीजन सनातन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं। और यज्ञ न करने वाले पुरुष के लिए तो यह मनुष्यलोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदायक हो सकता है?

एवं(म्) बहुविधा यज्ञा, वितता ब्रह्मणो मुखे ।

कर्मजान्विद्धि तान्सर्वा-नेवं(ञ्) ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ 32॥

इसी प्रकार और भी बहुत तरह के यज्ञ वेद की वाणी में विस्तार से कहे गए हैं। उन सबको तू मन, इन्द्रिय और शरीर की क्रिया द्वारा सम्पन्न होने वाले जान, इस प्रकार तत्व से जानकर उनके अनुष्ठान द्वारा तू कर्म बंधन से सर्वथा मुक्त हो जाएगा ।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्-ज्ञानयज्ञः(फ्) परन्तप ।

सर्वं(ङ्) कर्माखिलं(म्) पार्थ, ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ 33॥

हे परंतप अर्जुन! द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान यज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है तथा यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया ।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं(ञ्), ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ 34॥

उस ज्ञान को तू तत्वदर्शी ज्ञानियों के पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करने से, उनकी सेवा करने से और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करने से वे परमात्म तत्व को भलीभाँति जानने वाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्वज्ञान का उपदेश करेंगे ।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोह-मेवं(यँ) यास्यसि पाण्डव ।

येन भूतान्यशेषेण, द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ 35 ॥

जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोह को नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन! जिस ज्ञान द्वारा तू सम्पूर्ण भूतों को निःशेषभाव से पहले अपने में और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा में देखेगा ।

अपि चेदसि पापेभ्यः(स्), सर्वेभ्यः(फ्) पापकृत्तमः ।

सर्वं(ञ्) ज्ञानप्लवेनैव, वृजिनं(म्) सन्तरिष्यसि ॥ 36 ॥

यदि तू अन्य सब पापियों से भी अधिक पाप करने वाला है, तो भी तू ज्ञान रूप नौका द्वारा निःसंदेह सम्पूर्ण पाप-समुद्र से भलीभाँति तर जाएगा ।

यथैधां(म्)सि समिद्धोऽग्निर्-भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।

ज्ञानाग्निः(स्) सर्वकर्माणि, भस्मसात्कुरुते तथा ॥ 37 ॥

क्योंकि हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनों को भस्ममय कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्ममय कर देता है ।

न हि ज्ञानेन सदृशं(म्), पवित्रमिह विद्यते ।

तत्स्वयं(यँ) योगसं(म्)सिद्धः(ख्), कालेनात्मनि विन्दति ॥ 38 ॥

इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञान को कितने ही काल से कर्मयोग द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मा में पा लेता है ।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं(न्), तत्परः(स्) सं(यँ)यतेन्द्रियः ।

ज्ञानं(लँ) लब्ध्वा परां(म्) शान्ति-मचिरेणाधिगच्छति ॥ 39 ॥

जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान मनुष्य ज्ञान को प्राप्त होता है तथा ज्ञान को प्राप्त होकर वह बिना विलम्ब के- तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है ।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च, सं(म्)शयात्मा विनश्यति ।

नायं(लँ) लोकोऽस्ति न परो, न सुखं(म्) सं(म्)शयात्मनः ॥ 40 ॥

विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थ से अवश्य भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संशययुक्त मनुष्य के लिए न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है ।

योगसन्न्यस्तकर्माणं(ञ्), ज्ञानसञ्छिन्नसं(म्)शयम् ।

आत्मवन्तं(न्) न कर्माणि, निबध्नन्ति धनञ्जय ॥ 41॥

हे धनंजय! जिसने कर्मयोग की विधि से समस्त कर्मों का परमात्मा में अर्पण कर दिया है और जिसने विवेक द्वारा समस्त संशयों का नाश कर दिया है, ऐसे वश में किए हुए अन्तःकरण वाले पुरुष को कर्म नहीं बाँधते ।

तस्मादज्ञानसम्भूतं(म्), हृत्स्थं(ञ्) ज्ञानासिनात्मनः ।

छित्त्वैनं(म्) सं(म्)शयं(यँ) योग-मातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ 42 ॥

इसलिए हे भरतवंशी अर्जुन! तू हृदय में स्थित इस अज्ञानजनित अपने संशय का विवेकज्ञान रूप तलवार द्वारा छेदन करके समत्वरूप कर्मयोग में स्थित हो जा और युद्ध के लिए खड़ा हो जा॥42॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(यँ) योगशास्त्रे

श्रीकृष्णार्जुनसं(वँ)वादे ज्ञानकर्मसन्न्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

ॐ शांतिः(श्) शांतिः(श्) शांतिः।।

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत भी उस परमात्मा से पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है।